३३ कर्म और कार्य-मर्यादा

☐ पं. फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री

कर्म की कार्य-मर्यादा :

कर्म का मोटा काम जीव को संसार में रोके रखना है। परावर्तन संसार का दूसरा नाम है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव के भेद से वह पाँच प्रकार का है। कर्म के कारण ही जीव इन पाँच प्रकार के परावर्तनों में घूमता फिरता है। चौरासी लाख योनियाँ और उनमें रहते हुए जीव की जो विविध अवस्थाएँ होती हैं उनका मुख्य कारण कर्म है। स्वामी समन्तभद्र 'आप्त मीमांसा' में कर्म के कार्य का निर्देश करते हुए लिखते हैं—

"कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः।"

"जीव की काम, क्रोध आदि रूप विविध अवस्थाएँ अपने-अपने कर्म के अनुरूप होती हैं।"

बात यह है कि मुक्त दशा में जीव की प्रति समय जो स्वाभाविक परिणति होती है उसका अलग-अलग निमित्त कारण नहीं है, नहीं तो उसमें एकरूपता नहीं बन सकती। किन्तु संसार दशा में वह परिणति प्रति समय जुदी-जुदी होती रहती है इसलिये उसके जुदे-जुदे निमित्त कारण माने गये हैं। ये निमित्त संस्कार रूप में आत्मा से सम्बद्ध होते रहते हैं और तदनुकूल परिणति के पैदा करने में सहायता प्रदान करते हैं। जीव की अशुद्धता और शुद्धता इन निमित्तों के सद्भाव और असद्भाव पर आधारित है। जब तक इन निमित्तों का एक क्षेत्रावगाह संश्लेशरूप सम्बन्ध रहता है तब तक अशुद्धता बनी रहती है। जैन दर्शन में इन्हीं निमित्तों को कर्म शब्द से पुकारा गया है।

ऐसा भी होता है कि जिस समय जैसी बाह्य सामग्री मिलती है उस समय उसके अनुकूल अशुद्ध आत्मा की परिणति होती है। सुन्दर सुस्वरूप स्त्री के मिलने पर राग होता है। जुगुप्सा की सामग्री मिलने पर ग्लानि होती है। धन सम्पत्ति को देख कर लोभ होता है और लोभवश उसके अर्जन करने, छीन लेने या चुरा लेने की भावना होती है। ठोकर लगने पर दुःख होता है और माया का संयोग होने पर सुख। इसलिये यह कहा जा सकता है कि केवल कर्म ही आत्मा

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

की विविध परिस्थिति के होने में निमित्त नहीं हैं किन्तु अन्य सामग्री भी उसका निमित्त है अतः कर्म का स्थान बाह्य सामग्री को मिलना चाहिये।

परन्तु विचार करने पर यह युक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अन्तरंग में वैसी योग्यता के अभाव में बाह्य सामग्री कुछ भी नहीं कर सकती है। जिस योगी का राग भाव नष्ट हो गया है उसके सामने प्रबल राग की सामग्री उपस्थित होने पर भी राग पैदा नहीं होता। इससे मालूम पड़ता है कि अन्तरंग में योग्यता के बिना बाह्य सामग्री का कोई मूल्य नहीं है। यद्यपि कर्म के विषय में भी ऐसा ही कहा जा सकता है पर कर्म और बाह्य सामग्री इनमें मौलिक अन्तर है। कर्म जैसी योग्यता का सूचक है पर बाह्य सामग्री का वैसी योग्यता से कोई सम्बन्ध नहीं। कभी वैसी योग्यता के सद्भाव में भी बाह्य सामग्री नहीं मिलती और कभी उसके अभाव में भी बाह्य सामग्री का संयोग देखा जाता है। किन्तु कर्म के विषय में ऐसी बात नहीं है। उसका सम्बन्ध तभी तक आत्मा से रहता है जब तक उसमें तदनुकूल योग्यता पाई जाती है। अतः कर्म का स्थान बाह्य सामग्री नहीं ले सकती। फिर भी अन्तरंग में योग्यता के रहते हुए बाह्य सामग्री के मिलने पर न्यूनाधिक प्रमाण में कार्य तो होता ही है इसलिए निमित्तों की परिगणना में बाह्य सामग्री की भी गिनती हो जाती है। पर यह परम्परा निमित्त है। इसलिये इसकी परिगणना तो कर्म के स्थान में की गई है।

इतने विवेचन से कर्म की कार्य-मर्यादा का पता लग जाता है। कर्म के निमित्त से जीव की विविध प्रकार की अवस्था होती है और जीव में ऐसी योग्यता आती है जिससे वह योग द्वारा यथायोग्य शरीर, वचन और मन के योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर उन्हें अपनी योग्यतानुसार परिणमाता है।

कर्म की कार्य-मर्यादा यद्यपि उक्त प्रकार की है तथापि अधिकतर विद्वानों का विचार है कि बाह्य सामग्री की प्राप्ति भी कर्म से होती है। इन विचारों की पुष्टि में वे 'मोक्ष मार्ग प्रकाश' के निम्न उल्लेखों को उपस्थित करते हैं—"तहाँ वेदनीय करि तो शरीर विषै वा शरीर तै बाह्य नाना प्रकार सुख दुःखानि को कारण पर द्रव्य का संयोग जुरै है।" पृ० ३५

उसी से दूसरा प्रमाण वे यों देते हैं—

"बहुरि कर्मनि विषै वेदनीय के उदय करि शरीर विषै बाह्य सुख दुःख का कारण निपजै है। शरीर विषै आरोग्यपनौ, रोगीपनौ, शक्तिवानपनौ, दुर्बलपनौ अर क्षुधा, तृषा, रोग, खेद, पीड़ा इत्यादि सुख दुःखानि के कारण हो हैं। बहुरि बाह्य विषै सुहावना ऋतु पवनादिक वा इष्ट स्त्री पुत्रादिक वा मित्र धनादिक.... सुख दुःख के कारक ही हैं।" पृ० ५६।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इन विचारों की परम्परा यहीं तक नहीं जाती है किन्तु इससे पूर्ववर्ती बहुत से लेखकों ने भी ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं। पुराणों में पुण्य और पाप की महिमा इसी आधार से गाई गई है। अमितगति के 'सुभाषित रत्न सन्दोह' में दैवनिरूपण नाम का एक अधिकार है। उसमें भी ऐसा ही बतलाया है। वहाँ लिखा है कि पापी जीव समुद्र में प्रवेश करने पर भी रत्न नहीं पाता किन्तु पुण्यात्मा जीव तट पर बैठे ही उन्हें प्राप्त कर लेता है। यथा—

'जलधिगतोऽपि न कश्चित्कश्चितटगोऽपि रत्नमुपयाति।'

किन्तु विचार करने पर उक्त कथन युक्त प्रतीत नहीं होता। खुलासा इस प्रकार है—

कर्म के दो भेद हैं—जीव विपाकी और पुद्गल विपाकी। जो जीव की विविध अवस्था और परिणामों के होने में निमित्त होते हैं वे जीव विपाकी कर्म कहलाते हैं। और जिनसे विविध प्रकार के शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छवास की प्राप्ति होती है वे पुद्गल विपाकी कर्म कहलाते हैं। इन दोनों प्रकार के कर्मों में ऐसा एक भी कर्म नहीं बतलाया है जिसका काम बाह्य सामग्री का प्राप्त कराना हो। सातावेदनीय और असातावेदनीय ये स्वयं जीवविपाकी हैं 'राजवार्तिक' में इनके कार्य का निर्देश करते हुए लिखा है—

"यस्योदयाद्देवादिगतिषु शारीरमानससुख प्राप्तिस्तत्सद्वेद्यम। यत्फलं दुःखमनेकविधं तदसद्वेद्यम्।" पृष्ठ ३०४।

इन वार्तिकों की व्याख्या करते हुए वहां लिखा है—

"अनेक प्रकार की देवादि गतियों में जिस कर्म के उदय से जीवों के प्राप्त हुए द्रव्य के सम्बन्ध की अपेक्षा शारीरिक और मानसिक नाना प्रकार का सुख रूप परिणाम होता है वह सातावेदनीय है तथा नाना प्रकार की नरकादि गतियों में जिस कर्म के फलस्वरूप जन्म, जरा, मरण, इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, व्याधि, वध और बन्धनादि से उत्पन्न हुआ विविध प्रकार का मानसिक और कायिक दुःख होता है वह असाता वेदनीय है।"

'सर्वार्थसिद्धि' में जो साता वेदनीय और असाता वेदनीय के स्वरूप का निर्देश किया है, उससे भी उक्त कथन की पुष्टि होती है।

श्वेताम्बर कार्मिक ग्रंथों में भी इन कर्मों का यही अर्थ किया है। ऐसी हालत में इन कर्मों को अनुकूल व प्रतिकूल बाह्य सामग्री के संयोग-वियोग में निमित्त मानना उचित नहीं है। वास्तव में बाह्य सामग्री की प्राप्ति अपने-अपने कारणों से होती है। इसकी प्राप्ति का कारण कोई कर्म नहीं है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

ऊपर 'मोक्ष मार्ग प्रकाशक' के जिस मत की चर्चा की इसके सिवा दो मत और मिलते हैं जिनमें बाह्य सामग्री की प्राप्ति के कारणों का निर्देश किया गया है। इनमें से पहला मत तो पूर्वोक्त मत से ही मिलता जुलता है। दूसरा मत कुछ भिन्न है। आगे इन दोनों के आधार से चर्चा कर लेना इष्ट है:—

(१) षट्खण्डागम चूलिका अनुयोग द्वार में प्रकृतियों का नाम निर्देश करते हुए सूत्र १८ की टीका में वीरसेन स्वामी ने इन कर्मों की विस्तृत चर्चा की है। यहाँ सर्वप्रथम उन्होंने साता और असाता वेदनीय का वही स्वरूप दिया है जो 'सर्वार्थ सिद्धि' आदि में बतलाया गया है। किन्तु शंका-समाधान के प्रसंग से उन्होंने साता वेदनीय को जीव विपाकी और पुद्गल विपाकी उभय रूप सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

इस प्रकरण के वांचने से ज्ञात होता है कि वीरसेन स्वामी का यह मत था कि साता वेदनीय और असाता वेदनीय का काम सुख-दुःख को उत्पन्न करना तथा इनकी सामग्री को जुटाना दोनों है।

(२) तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय २ सूत्र ४ की 'सर्वार्थ सिद्धि' टीका में बाह्य सामग्री की प्राप्ति के कारणों का निर्देश करते हुए लाभादि को उसका कारण बतलाया है। किन्तु सिद्धों में अति प्रसंग देने पर लाभादि के साथ शरीर नाम कर्म आदि की अपेक्षा और लगा दी है।

ये दो ऐसे मत हैं जिनमें बाह्य सामग्री की प्राप्ति का क्या कारण है, इसका स्पष्ट निर्देश किया है। आधुनिक विद्वान् भी इनके आधार से दोनों प्रकार के उत्तर देते हुए पाये जाते हैं। कोई तो वेदनीय को बाह्य सामग्री की प्राप्ति का निमित्त बतलाते हैं और कोई लाभान्तराय आदि के क्षय व क्षयोपशम को। इन विद्वानों के ये मत उक्त प्रमाणों के बल से भले ही बने हों किन्तु इतने मात्र से इनकी पुष्टि नहीं की जा सकती क्योंकि उक्त कथन मूल कर्म व्यवस्था के प्रतिकूल पड़ता है।

यदि थोड़ा बहुत इन बातों को प्रश्रय दिया जा सकता है तो उपचार से ही दिया जा सकता है। वीरसेन स्वामी ने तो स्वर्ग, भोगभूमि और नरक में सुख-दुःख की निमित्तभूत सामग्री के साथ वहाँ उत्पन्न होने वाले जीवों के साता और असाता के उदय का सम्बन्ध देखकर उपचार से इस नियम का निर्देश किया है कि बाह्य सामग्री साता और असाता का फल है। तथा पूज्यपाद स्वामी ने संसारी जीव में बाह्य सामग्री में लाभादि रूप परिणाम लाभान्तराय आदि के क्षयोपशम का फल जानकर उपचार से इस नियम का निर्देश किया है कि लाभान्तराय आदि के क्षय व क्षयोपशम से बाह्य सामग्री की प्राप्ति होती है। तत्त्वतः बाह्य सामग्री की प्राप्ति न तो साता-असाता का ही फल है और न

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

लाभान्तराय आदि कर्म के क्षय व क्षयोपशम का ही फल है। बाह्य सामग्री इन कारणों से न प्राप्त होकर अपने-अपने कारणों से ही प्राप्त होती है। उद्योग करना, व्यवसाय करना, मजदूरी करना, व्यापार के साधन जुटाना, राजा-महाराजा या सेठ-साहूकार की साहूकारी करना, उनसे दोस्ती जोड़ना, अर्जित धन की रक्षा करना, उसे ब्याज पर लगाना, प्राप्त धन को विविध व्यवसायों में लगाना, खेतीबाड़ी करना, झांसा देकर ठगी करना, जेब काटना, चोरी करना, जुआ खेलना, भीख मांगना, धर्मादय को संचित कर पचा जाना आदि बाह्य सामग्री की प्राप्ति के साधन हैं। इन व अन्य कारणों से बाह्य सामग्री की प्राप्ति होती है, उक्त कारणों से नहीं।

शंका—इन सब बातों के या इनमें से किसी एक के करने पर भी हानि देखी जाती है सो इसका क्या कारण है ?

समाधान—प्रयत्न की कमी या बाह्य परिस्थिति या दोनों।

शंका—कदाचित् व्यवसाय आदि के नहीं करने पर भी धन प्राप्ति देखी जाती है तो इसका क्या कारण है ?

समाधान—यहाँ यह देखना है कि वह प्राप्ति कैसे हुई है ? क्या किसी के देने से हुई या कहीं पड़ा हुआ धन मिलने से हुई है ? यदि किसी के देने से हुई है तो इसमें जिसे मिला है उसके विद्या आदि गुण कारण हैं या देने वाले की स्वार्थ-सिद्धि, प्रेम आदि कारण हैं। यदि कहीं पड़ा हुआ धन मिलने से हुई है तो ऐसी धन प्राप्ति, पुण्योदय का फल कैसे कहा जा सकता है ? यह तो चोरी है। अतः चोरी के भाव इस धन प्राप्ति में कारण हुए न कि साता का उदय।

शंका—दो आदमी एक साथ एक सा व्यवसाय करते हैं फिर क्या कारण है कि एक को लाभ होता है दूसरे को हानि ?

समाधान—व्यापार करने में अपनी-अपनी योग्यता और उस समय की परिस्थिति आदि इसका कारण है, पाप-पुण्य नहीं। संयुक्त व्यापार में एक को हानि और दूसरे को लाभ हो तो कदाचित् हानि-लाभ, पाप-पुण्य का फल माना भी जाये। पर ऐसा होता नहीं, अतः हानि-लाभ को पाप-पुण्य का फल मानना किसी भी हालत में उचित नहीं है।

शंका—यदि बाह्य सामग्री का लाभालाभ पुण्य-पाप का फल नहीं है तो फिर एक गरीब और दूसरा श्रीमान् क्यों होता है ?

समाधान—एक का गरीब और दूसरे का श्रीमान् होना यह व्यवस्था का फल है, पुण्य-पाप का नहीं। जिन देशों में पूंजीवादी व्यवस्था है और व्यक्तिगत

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्पत्ति के जोड़ने की कोई मर्यादा नहीं, वहाँ अपनी-अपनी योग्यता व साधनों के अनुसार गरीब-अमीर इन वर्गों की सृष्टि हुआ करती है। गरीब और अमीर इनको पाप-पुण्य का फल मानना किसी भी हालत में उचित नहीं है। रूस ने बहुत कुछ अंशों में इस व्यवस्था को तोड़ दिया है इसलिये वहाँ इस प्रकार का भेद नहीं दिखाई देता है फिर भी वहाँ पुण्य और पाप तो हैं ही। सचमुच में पुण्य और पाप तो वह है जो इन बाह्य व्यवस्थाओं के परे हैं और वह है आध्यात्मिक। जैन कर्मशास्त्र ऐसे ही पुण्य-पाप का निर्देश करता है।

शंका—यदि बाह्य सामग्री का लाभालाभ पुण्य-पाप का फल नहीं है तो सिद्ध जीवों को इसकी प्राप्ति क्यों नहीं होती ?

समाधान—बाह्य सामग्री का सद्भाव जहाँ है वहीं उसकी प्राप्ति संभव है। यों तो इसकी प्राप्ति जड़-चेतन दोनों को होती है। क्योंकि तिजोरी में भी धन रखा रहता है इसलिये उसे भी धन की प्राप्ति कहा जा सकता है। किन्तु जड़ के रागादि भाव नहीं होता और चेतन के होता है, इसलिये वही उसमें ममकार और अहंकार भाव करता है।

शंका—यदि बाह्य सामग्री का लाभालाभ पुण्य-पाप का फल नहीं है तो न सही पर सरोगता और नीरोगता यह तो पाप-पुण्य का फल मानना ही पड़ता है।

समाधान—सरोगता और नीरोगता यह पाप-पुण्य के उदय का निमित्त भले ही हो जाय पर स्वयं वह पाप-पुण्य का फल नहीं है। जिस प्रकार बाह्य सामग्री अपने-अपने कारणों से प्राप्त होती है, उसी प्रकार सरोगता और नीरोगता भी अपने-अपने कारणों से प्राप्त होती है। इसे पाप-पुण्य का फल मानना किसी भी हालत में उचित नहीं है।

शंका—सरोगता और नीरोगता के क्या कारण हैं ?

समाधान—अस्वास्थ्यकर आहार, विहार व संगति करना आदि सरोगता के कारण हैं और स्वास्थ्यवर्धक आहार, विहार व संगति करना आदि नीरोगता के कारण हैं।

इस प्रकार कर्म की कार्य-मर्यादा का विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म बाह्य सम्पत्ति के संयोग-वियोग का कारण नहीं है। उसकी मर्यादा उतनी ही है जिसका निर्देश हम पहले कर आये हैं। हाँ, जीव के विविध भाव कर्म के निमित्त से होते हैं और ये कहीं-कहीं बाह्य सम्पत्ति के अर्जन आदि में कारण पड़ते हैं, इतनी बात अवश्य है। □

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org